शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

फरवरी : १९५७ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ माघ, अंक : १०

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

भिन्न, भिन्न और भिन्न

आत्मा अमूर्तिक चैतन्यमूर्ति है। यह जड़ पुद्गलमय देह उससे भिन्न है। चैतन्यमूर्ति आत्मा से यह अचेतन शरीर भिन्न ही था, है और रहेगा। भिन्न... भिन्न... और भिन्न... त्रिकाल भिन्न। चेतन और अचेतन में कभी एकता है ही नहीं, दोनों त्रिकाल भिन्न ही हैं। अरे जीव! मेरा चेतनस्वरूप, जड़ से भिन्न है—ऐसी भिन्नता का बोध तो कर! यदि जीवन में भिन्नता का बोध किया होगा तो देह छूटते समय चैतन्य के लक्ष से समाधि रहेगी। जिसे जड़ से भिन्नत्व का भान नहीं है, वह तो देह और राग में एकत्वबुद्धि होने से आकुल-व्याकुल हो जायेगा। भाई! जड़ से और विकार से पृथक् मैं चैतन्यमूर्ति हूँ—ऐसा भान करके जीवन में उसकी भावना तो कर! उस भिन्नत्व की भावना से आत्मा में एकता होगी और आनन्द में लीनता होने से उत्तम समाधिमरण होगा।

(—नियमसार गाथा ९२ के प्रवचन से)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१४२]

एक अंक
चार आना

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ [सौराष्ट्र]

नया प्रकाशन

मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें

[द्वितीय भाग]

पृष्ठ संख्या ४५३ सजिल्द, मूल्य लागत मात्र २)

जिसमें सातवें अधिकार में से जैनमत अनुयायी मिथ्यादृष्टि के स्वरूप पर बड़ी स्पष्ट शैली में सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने व्याख्यान किये हैं उन व्याख्यानों का सार है।

आज ही मंगाइये—

पता— **जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट**

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

'लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका'

[दूसरी आवृत्ति]

यह एक विशिष्ट, अत्यावश्यक, स्वाध्याय तथा प्रचार योग्य तत्त्वज्ञान प्रवेशिका है, शास्त्राधार सहित उत्तम और सुगम कथन है, मुमुक्षुजन अवश्य स्वाध्याय करें।

पत्र संख्या १०५ मूल्य ०-३-०

पोस्टेज अलग

पता—

जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

फरवरी : १९५७ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ माघ, अंक : १०

आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

[२३]

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में आचार्यदेव ने ४७ नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

(गतांक से आगे)

जिसे आत्मस्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करने की लगन लगी है—ऐसा शिष्य पूछता है कि हे प्रभो ! आत्मा का क्या स्वरूप है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है ?—ऐसी आकांक्षावाले शिष्य को आचार्यदेव विविध नयों से आत्मा का स्वरूप समझाते हैं—उसी का यह वर्णन है।

(४४) व्यवहारनय से आत्मा का वर्णन

यहाँ ४७ नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है; उनमें से ४३ नयों का कथन हो चुका है, अब ४ नय शेष हैं। पहले व्यवहार और निश्चय यह दो नय हैं और फिर अन्त में अशुद्ध और शुद्धनय से वर्णन है।

व्यवहार से देखने पर आत्मद्रव्य बंध और मोक्ष के सम्बन्ध में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है। जिसप्रकार परमाणु के बंध में वह परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ संयोग पाने रूप द्वैत को प्राप्त होता है, और परमाणु के मोक्ष में-अर्थात् एक परमाणु पृथक् हो, उसमें वह परमाणु अन्य परमाणुओं से पृथक् होने रूप द्वैत को प्राप्त होता है; उसीप्रकार व्यवहारनय से आत्मा के बंध में कर्म के साथ संयोग की अपेक्षा आती है, इसलिये द्वैत है और आत्मा के मोक्ष में कर्म के वियोग की अपेक्षा आती है, इसलिये वहाँ भी द्वैत है।

देखो, कर्म से निरपेक्ष मात्र परम चैतन्यस्वभाव को ही लक्ष में लेकर देखें तो भगवान आत्मा

त्रिकाल एकरूप बंध-मोक्ष रहित है; किंतु पर्याय में बंध और मोक्ष हैं। वहाँ बंध में कर्म के सद्भाव का निमित्त है, तथा मोक्ष में कर्म के अभाव का निमित्त है।—इसप्रकार व्यवहार से बंध और मोक्ष दोनों में आत्मा को पुद्गलकर्म की अपेक्षा आती है, इसलिये वह द्वैत का अनुसरण करनेवाला है-ऐसा कहा है। किंतु वह द्वैत का अनुसरण करना आत्मा का अपना धर्म है, कहीं कर्म के कारण वह धर्म नहीं है। अपनी पर्याय में बंध की योग्यता के समय आत्मा स्वयं कर्म के सद्भाव का अनुसरण करता है, और अपनी पर्याय में मोक्ष की योग्यता के समय वह कर्म के अभाव का अनुसरण करता है; किन्तु कर्म में ऐसा धर्म नहीं है कि वह आत्मा को जबरन अनुसरण कराये। जितना कर्म का उदय आता है, उतने प्रमाण में आत्मा को उसका अनुसरण करना ही पड़ता है—ऐसा नहीं है। कर्म के उदय का अनुसरण न करके अपने स्वभाव का अनुसरण करे तो मोक्ष का साधन हो और मोक्षदशा प्रगट हो; उस मोक्ष में आत्मा, कर्म के अभाव का अनुसरण करता है। स्वभाव का अनुसरण न करके कर्म का अनुसरण करे तो बंधन होता है, और कर्म का अनुसरण न करके स्वभाव का अनुसरण करे-अर्थात् कर्म के अभाव का अनुसरण करे तो मोक्ष होता है। इसप्रकार बंध में कर्म के सद्भाव का निमित्त है और मोक्ष में कर्म के अभाव का-ऐसा जानना चाहिये। बंध या मोक्ष की अवस्थारूप परिणमन तो आत्मा स्वयं अकेला ही करता है, मात्र उसमें कर्म के सद्भाव या अभावरूप निमित्त की अपेक्षा आती है; इसलिये व्यवहारनय से आत्मा द्वैत का अनुसरण करनेवाला है-ऐसा कहा है; किन्तु कर्म आत्मा को बंध-मोक्ष कराते हैं—ऐसा उसका तात्पर्य नहीं है। निश्चय से तो आत्मा, राग करे और व्यवहार से कर्म करायें—ऐसा भी नहीं है। आत्मा स्वयं राग करे, तब कर्म का अनुसरण करता है; अर्थात् रागादिभाव, कर्म का अनुसरण है, स्वभाव का अनुसरण करने से राग नहीं होता, इसलिये राग में कर्म के निमित्त की अपेक्षा है, उसका ज्ञान करना, वह व्यवहारनय है, किन्तु कर्म राग कराते हैं—ऐसा मानना तो भ्रम है। प्रवचनसार की १२६ वीं गाथा में आचार्यदेव ने यह बात स्पष्ट की है कि अज्ञानदशा में या ज्ञानदशा में संसार में या मोक्ष में आत्मा स्वयं अकेला ही कर्ता है।

प्रश्न—किसी जीव को क्षायिक सम्यक्त्व हुआ; राग-द्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा राग-द्वेष रहित ज्ञायक स्वभावी है—ऐसा भान हुआ; तथापि उसे भी राग-द्वेष क्यों होते हैं? कर्म ही उसे राग-द्वेष कराते हैं, क्योंकि राग-द्वेष करने की उसकी भावना तो नहीं है?

उत्तर—क्षायिक सम्यक्त्व होने पर भी, और राग-द्वेषरहित चिदानन्दस्वभाव का भान होने

पर भी, उस जीव को जो राग-द्वेष होते हैं, वे कर्म नहीं कराते, किन्तु वह आत्मा स्वयं ही कर्मों का अनुसरण करता है, इसलिये राग-द्वेष होते हैं; कर्मों का उदय उसे जबरन राग-द्वेष कराता है-ऐसा नहीं है। राग-द्वेष करने की धर्मी की भावना नहीं है, भावना तो स्वभाव का अनुसरण करने की है; किन्तु अभी अस्थिरता से राग-द्वेष होते हैं, वे कर्म का अनुसरण करने से होते हैं—ऐसा वह जानता है और स्वभावदृष्टि के बल से उसके प्रतिक्षण कर्मों का अवलम्बन टूटता जाता है तथा स्वभाव का अवलम्बन बढ़ता जाता है—इसप्रकार स्वभाव का पूर्ण अवलम्बन होने से जब मोक्ष होगा, उस समय आत्मा, कर्म के अभाव का अनुसरण करेगा। इसप्रकार व्यवहार से बंध और मोक्ष में आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है।

यहाँ साधक के नय हैं; साधक की बात है; सिर्फ भटकनेवाले की यह बात नहीं है। जिसकी दृष्टि में मात्र कर्मों का ही अवलम्बन है, स्वभाव का किंचित् भी अवलम्बन नहीं है, उसके तो यह व्यवहारनय भी नहीं होता। ज्ञानी को दृष्टि में तो निरपेक्ष ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन वर्तता है और अभी साधकदशा में कुछ राग-द्वेष होते हैं, उतना कर्मों का अवलम्बन है। जितना राग है, उतना कर्म का निमित्त है—ऐसा वह जानता है और स्वभाव के अवलम्बन से कर्म के निमित्तों का भी अभाव होता जाता है, उसे भी वह जानता है। यहाँ बंध और मोक्ष में आत्मा के अतिरिक्त अन्य की अपेक्षा आई, इसलिये उसमें व्यवहार से द्वैत कहा है।

समयसार में दृष्टिप्रधान कथन में सम्यक्त्वी संत को चौथे गुणस्थान में भी अबंध कहा है; उसे बंधन होता ही नहीं—ऐसा दृष्टि के बल से कहा है; किन्तु चौथे-पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान में अभी चारित्र की अस्थिरता से जितने राग-द्वेष होते हैं, उतना बंधन है और उस बंधन में कर्म के निमित्त की अपेक्षा आती है, उसे साधक व्यवहारनय से जानता है; वह अबंध स्वभाव की दृष्टि रखकर बंधन को और उसके निमित्त को जानता है। अबंध स्वभाव की दृष्टि बिना अज्ञानी को तो बंधन का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता।

जैसे-एक परमाणु 'बँधा या पृथक् हुआ'—ऐसा लक्ष में लेने से उसमें दूसरे परमाणु की अपेक्षा आती है—'इसके साथ यह बँधा अथवा इससे यह पृथक् हुआ'—इसप्रकार दूसरे परमाणु की अपेक्षा आती है, इसलिये वह परमाणु बंध में और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है; दूसरे परमाणु की अपेक्षा बिना उसे बंध-मोक्ष नहीं कहे जा सकते। उसीप्रकार आत्मा के बंध या मोक्ष को लक्ष में लेने से उसमें कर्म की अपेक्षा आती है; बंध और मोक्ष तो आत्मा स्वयं स्वतंत्ररूप से करता

है किंतु उसमें कर्म के सद्भाव की या अभाव की अपेक्षा आती है, इसलिये व्यवहारनय से आत्मा बंध-मोक्ष में अनुसरण करे अथवा मोक्ष के समय निमित्त के अभाव का अनुसरण करे, वे दोनों प्रकार इसमें आ जाते हैं। साधक की पर्याय अंशतः कर्म का अनुसरण करती है और अंशतः कर्म के अभाव का भी अनुसरण करती है; सर्वथा कर्म के सद्भाव का ही अनुसरण करती है—ऐसा नहीं है; किन्तु उसी समय अंशतः स्वभाव का भी अनुसरण करती है, इसलिये कर्म के अभाव का भी अनुसरण करती है।—इसप्रकार साधक की बात है। परमपारिणामिकभावरूप निरपेक्ष स्वभाव की दृष्टि रखकर पर्याय के बंध-मोक्ष में कर्म के सद्भाव की या अभाव की जितनी अपेक्षा आती है, उसे भी साधक जीव जानता है। बंध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करती है, वह मेरी पर्याय का धर्म है; इसलिये बंध-मोक्ष में कर्म के निमित्त की अपेक्षा आती है, तथापि उन बंध और मोक्ष दोनों में मेरे आत्मा की स्वतंत्रता है—ऐसा धर्मी जानता है।

यदि कर्म आत्मा को विकार करा देता हो तो वह निमित्तरूप नहीं रहा, किन्तु निमित्त स्वयं उपादान के धर्म में आ गया, इसलिये उपादान का धर्म भी स्वतंत्र नहीं रहा। किंतु ऐसा नहीं है। यहाँ तो आत्मा स्वयं से ही बंध-मोक्षरूप परिणमित होता है, किंतु उसमें कर्म की अपेक्षा आती है, इतनी बात है। जीव स्वयं विकार करके कर्म के उदय का अनुसरण करता है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। निमित्त विकार कराता है, यह मान्यता तो स्थूल विपरीत है। यदि पर विकार नहीं कराता किन्तु अपने दोष से ही विकार होता है—ऐसा मानकर भी वह विकार की ओर दृष्टि लगाये रहे—विकार जितना ही आत्मा का अनुभवन करता रहे, तो वह भी मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ आत्मा की बंध-मोक्ष पर्याय में कर्म की अपेक्षा आती है, उतने द्वैत को व्यवहार कहा है, और बंध-मोक्ष पर्याय को निरपेक्ष कहना, उसे निश्चय कहा है। और समयसार में अध्यात्मदृष्टि की प्रधानता से बंध-मोक्ष पर्यायों को भी व्यवहार माना है; भेद मात्र को वहाँ व्यवहार माना है और शुद्ध-अभेद आत्मा को ही निश्चय माना है। सम्यग्दृष्टि को व्यवहार का-भेद का आश्रय नहीं है; सम्यक्त्वी की दृष्टि में तो एकरूप अभेद शुद्धात्मा ही साध्य और ध्येय है; उस ध्येय में एकाग्रता करने से पर्याय की निर्मलता बढ़ती जाती है, बंध टलता जाता है और मोक्ष-पर्याय होती जाती है किन्तु सम्यग्दर्शन के विषय में वह पर्याय का भेद अभूतार्थ है।

यहाँ ज्ञानप्रधान कथन में स्व की पर्याय को भी निश्चय कहा, और उसमें पर की अपेक्षा लागू हुई, उसे व्यवहार कहा। बंध-मोक्ष पर्यायरूप से आत्मा अकेला ही परिणमित होता है—ऐसा

जानना, सो निश्चयनय है और उस बंध-मोक्षपर्याय में कर्म की अपेक्षा लेकर आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है—ऐसा जानना, सो व्यवहारनय है। यदि आत्मा सर्वथा कर्म के अभाव का अनुसरण करे तो मोक्षदशा होती है; सर्वथा कर्म के उदय का ही अनुसरण करे तो मिथ्यादृष्टि होता है, साधक को दोनों धाराएँ एक साथ हैं—अर्थात् स्वभाव के अवलम्बन से अंशतः कर्म के अभाव का भी अनुसरण करता है और अभी अल्प विकार है, उतने अंश में कर्म का भी अनुसरण करता है।

एक पृथक् परमाणु में योग्यता होने से वह दूसरे परमाणु के साथ बँधता है, वहाँ दूसरे परमाणु के साथ बँधने का धर्म उसका अपना है, दूसरे परमाणु के कारण उसमें बँधने का धर्म हुआ है-ऐसा नहीं है। परमाणु को बंधन होने में 'दो गुण अधिक' साथ में बँधे—ऐसा नियम है, किन्तु छूटने में कोई नियम नहीं है। दो परमाणुओं का संयोग हुआ, वह बंधन और दो परमाणु पृथक् हुए, वह मोक्ष—इसप्रकार बंध-मोक्ष में परमाणुओं का द्वैतपना है। स्पर्शगुण की चार अंश रुक्षता या चिकनाईवाले परमाणु के साथ दो अंशवाला परमाणु बँधे, तो वहाँ उस चार अंशवाले परमाणु को 'बंधक' (बंधनकर्ता) कहा जाता है, और अन्य परमाणु से जब वह पृथक् हो, तब अन्य परमाणु को 'मोचक' (मुक्तिकर्ता) कहा जाता है। इसप्रकार परमाणु को बंध-मोक्ष में अन्य परमाणु की अपेक्षा आती है, इसलिये व्यवहारनय से द्वैतपना है। उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में अपनी योग्यतानुसार बंध-मोक्ष होता है, वहाँ 'आत्मा बँधा और मुक्त हुआ'—ऐसा कहने में कर्म से बँधा और कर्म से छूटा—ऐसी कर्म की अपेक्षा लेने से द्वैतपना आता है; इसलिये आत्मा व्यवहारनय से द्वैत का अनुसरण करता है—ऐसा आत्मा का एक धर्म है।

कार्तिकेयस्वामी कृत 'द्वादशानुप्रेक्षा' की २११ वीं गाथा में पुद्गल की बड़ी शक्ति का वर्णन किया है। आत्मा जो केवलज्ञानरूप महान स्वभाव, उसे आवृत करने में निमित्त हो, ऐसी पुद्गल की महान शक्ति है—ऐसा कहकर वहाँ तो निमित्तरूप से यह बतलाया है कि पुद्गल की पर्याय में कैसा उत्कृष्ट धर्म है। किन्तु इस ओर जीव का उत्कृष्टस्वभाव केवलज्ञान सामर्थ्य से परिपूर्ण है—उसकी प्रतीति करे, तभी पुद्गल के स्वभाव का यथार्थ ज्ञान होता है। अकेले पुद्गल की ही सामर्थ्य है और पुद्गल ही जीव की शक्ति को रोकता है—ऐसा जो माने, उसकी तो दृष्टि ही विपरीत है, उसने तो जीव-पुद्गल की भिन्नता भी नहीं मानी है; तो फिर जीव की और पुद्गल की शक्ति क्या है, उसकी उसे खबर नहीं पड़ सकती। पुद्गल की शक्ति पुद्गल में है और जीव का धर्म जीव में स्वतंत्र है; पुद्गल का अथवा अपने चिदानन्दस्वभाव का अनुसरण करने में जीव स्वयं

स्वतंत्र है। व्यवहारनय से जीव के धर्म का वर्णन हो या निश्चयनय से हो; वहाँ सर्वत्र जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता रखकर वह वर्णन है—ऐसा समझना चाहिये और ऐसा समझना ही सर्वज्ञ भगवान के अनेकान्त शासन का रहस्य है। जीव स्वयं केवलज्ञानरूप परिणमित न होकर अल्पज्ञरूप परिणमित होता है, तब वह केवलज्ञानावरणीय कर्म का अनुसरण करता है। वहाँ केवलज्ञानावरणीय कर्म ने जीव की केवलज्ञान शक्ति को रोका—ऐसा कहना, वह तो मात्र निमित्त के उपचार का कथन है। भगवान! 'केवलज्ञानावरणीय कर्म है, इसलिये आत्मा को उसका अनुसरण करना पड़ता है'—ऐसा विपरीत न ले, किन्तु बंधभाव के समय कर्म का अनुसरण करे—ऐसा तेरा अपना धर्म है—इसप्रकार आत्मा की ओर से यथार्थ ले, तो तुझे आत्मा के धर्म द्वारा आत्मद्रव्य की पहिचान हो और तेरा व्यवहारनय सच्चा हो।

त्रिकाली स्वभाव को लक्ष में लेकर देखें तो आत्मा शुद्ध एकरूप है; उसकी पर्याय विकारी भाव में अटके, वह भावबंध है और उस भावबंध में कर्म संयोगरूप निमित्त दूसरा है—इसप्रकार बंध में द्वैत है और स्वभाव में लीन होकर मोक्षपर्याय प्रगट करे, उसमें भी कर्म के नाश की अपेक्षा होने से द्वैत है। इसप्रकार पर की अपेक्षा सहित बंध-मोक्ष पर्याय का कथन करना, वह व्यवहारनय का विषय है। व्यवहारनय से आत्मा बंध और मोक्ष दोनों में द्वैत की अपेक्षा रखनेवाला है। यहाँ, एकरूप आत्मा में बंध और मोक्ष—ऐसे दो प्रकार पड़े, इसलिये व्यवहार कहा हो—ऐसा नहीं है; किन्तु बंध और मोक्ष इन दोनों पर्यायों में पर की अपेक्षारूप द्वैत होने से उसे व्यवहार कहा है और कर्म की अपेक्षा न लेकर आत्मा अकेला ही बंध-मोक्षदशारूप होता है—ऐसा लक्ष में लेने को निश्चय कहेंगे। इसप्रकार यहाँ बंध-मोक्ष पर्याय का कथन निमित्त की अपेक्षा सहित करना, सो व्यवहार है और मात्र स्वयं से बंध-मोक्ष पर्याय का वर्णन करना, सो निश्चय है। जहाँ जिस अपेक्षा से निश्चय-व्यवहार कहे गये हों, वहाँ उसप्रकार समझ लेना चाहिये।

पुद्गल कर्म जीव को भावबंध कराता है—ऐसा नहीं है, किन्तु जीव का एक ऐसा धर्म है कि अपने भावबंध में वह पुद्गलकर्म का अनुसरण करता है। आत्मा स्वयं निमित्त का अनुसरण करता है, किन्तु निमित्त में ऐसा धर्म नहीं है कि वह आत्मा को जबरन अनुसरण कराये! इस धर्म को समझे तो उसमें भी आत्मा की स्वतंत्रता समझ में आ जाती है। यह जो धर्म कहे जा रहे हैं, उन धर्मोंवाला तो आत्मद्रव्य है; इसलिये अनंत धर्मस्वरूप आत्मद्रव्य के लक्षपूर्वक ज्ञानी अपने धर्म को जानता है। पर्याय में अभी बंधभाव है, उतना आत्मा कर्म का अनुसरण करता है; क्षणिक पर्याय में

ही वैसा धर्म है। आत्मा का त्रिकालीस्वभाव कर्मों का अनुसरण नहीं करता किन्तु कर्म के अभाव का अनुसरण करता है।—ऐसे स्वभाव की प्रतीति में धर्मी को पर्याय में से कर्म का अनुसरण छूटता जाता है और कर्म के अभाव का अनुसरण होता जाता है। इसप्रकार व्यवहारनय से आत्मा बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है।

पुद्गल कर्म में कहीं ऐसा धर्म नहीं है कि वह आत्मा के बंध-मोक्ष को करे; आत्मा स्वयं ही अपना बंध-मोक्ष करता है और स्वयं द्वैत का अनुसरण करता है। बंध और मोक्ष तो क्रमशः हैं; बंधदशा के समय मोक्षदशा नहीं होती और मोक्षदशा के समय बंधदशा नहीं होती; किन्तु उन बंध और मोक्ष दोनों दशाओं में द्वैत का अनुसरण करने रूप धर्म आत्मा में है। बंध के समय द्वैत का अनुसरण करने रूप दूसरा धर्म और मोक्ष के समय द्वैत का अनुसरण करने रूप दूसरा धर्म—इसप्रकार भिन्न-भिन्न दो धर्म नहीं लिये हैं, किंतु द्वैत का अनुसरण करने रूप एक धर्म है, उस धर्म से आत्मा बंध के और मोक्ष के समय द्वैत का अनुसरण करता है, अर्थात् उसकी बंध-मोक्ष पर्याय में दूसरे निमित्त की अपेक्षा भी आती है।

मोक्ष पर्याय में भी आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है—ऐसा व्यवहार से कहा है, इसलिये उसमें कहीं पर का अवलम्बन नहीं है। अपनी मोक्ष पर्याय की योग्यता के समय आत्मा स्वयं कर्म के अभाव का अनुसरण करता है, यानी एक स्वयं और दूसरा कर्म के अभावरूप निमित्त;—इसप्रकार वह द्वैत का अनुसरण करता है। यह द्वैत का अनुसरण करनेरूप धर्म भी कहीं पर के आश्रय से नहीं है, वह धर्म भी आत्माश्रित है।

देखो, यह चैतन्य वस्तु की महिमा! उसमें अनंत धर्मों का वास है। चैतन्यवस्तु में अनंत धर्मों की बस्तियाँ बसी हैं; अनंत धर्मों का उसमें मुहूर्त है। जिसप्रकार बड़े-बड़े मकानों का मुहूर्त करके लोग उनमें रहते हैं, किन्तु यदि आदमी न रहते हों तो खाली मकान का मुहूर्त कैसा? उसीप्रकार इस आत्मा में मुहूर्त होता है। आत्मवस्तु में कौन वास करता है?—उसमें अपने अनंत धर्म वास करते हैं, उन अनंत धर्मों का मुहूर्त आत्मा में है। भगवान्! अपनी ऐसी वस्तु की महिमा को लक्ष में लेकर उसमें तू वास कर, तो तेरा भववास मिट जाये और मोक्ष दशा प्रगट हो।

आत्मा के अनंत धर्मों में एक ऐसा धर्म है कि वह बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है। बंध के समय कर्म का उदय है, इसलिये उस कर्म के कारण आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है-ऐसा नहीं है; क्योंकि मोक्ष के समय तो कर्म का अभाव होने पर भी वहाँ भी आत्मा द्वैत का

अनुसरण करता है-ऐसा कहा है। व्यवहारनय से मोक्ष में भी पर की (कर्म के अभाव की) अपेक्षा लागू होती है, इसलिये वहाँ भी आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है-ऐसा कहा है। इसप्रकार द्वैत का अनुसरण करने में भी आत्मा की स्वतंत्रता है; किंतु ऐसा नहीं है कि कर्म के उदय का जोर है; इसलिये आत्मा को उसका अनुसरण करके बंधभाव करना पड़ता है और कर्म छोड़ेगा, तब आत्मा की मुक्ति होगी। आत्मा बंधन के समय स्वयं कर्म का अनुसरण करता है और मोक्ष के समय स्वयं कर्म के अभाव का अनुसरण करता है:—ऐसा द्वैत का अनुसरण करने का धर्म अपना है। परोन्मुखदृष्टि से उसके इस धर्म का स्वीकार यथार्थतया नहीं हो सकता, किन्तु आत्मद्रव्योन्मुख दृष्टि रखकर ही उस धर्म का यथार्थतया स्वीकार होता है।

आत्मा के एक धर्म का यथार्थ स्वीकार करने जाये तो उसमें भी सारा रहस्य आ जाता है। आत्मा एक वस्तु, उसमें अनंत धर्म, उन अनंत धर्मोंरूप वस्तु को जाननेवाला प्रमाणज्ञान, प्रत्येक धर्म को जाननेवाला एक-एक नय, ऐसे अनंत नयों स्वरूप श्रुतज्ञान प्रमाण, अवस्था में विकार और उसका निमित्त—यह सब रहस्य इसमें समा जाता है। ऐसी बात सर्वज्ञकथित जैनदर्शन के अतिरिक्त कहीं नहीं आती।

यहाँ आत्मद्रव्य समझाने के लिये उसके भिन्न-भिन्न धर्मों द्वारा उसका वर्णन किया है; उसमें जोर कहाँ देना है? एक-एक धर्म का भेद करके उस पर जोर नहीं देना है, किन्तु आत्मा के इन धर्मों द्वारा धर्मी ऐसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मद्रव्य का निर्णय करके उस पर दृष्टि का जोर देना है। अंतर में अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र देखना ही इन सब नयों का तात्पर्य है। इसके अतिरिक्त निमित्त पर विकार पर या भेद पर जोर देना किसी भी नय का तात्पर्य नहीं है। शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मद्रव्य अनंतधर्मों के पिण्डरूप है, उसी के यह सब धर्म हैं—ऐसा जानकर, उस शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा का ही अवलम्बन करने से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है अर्थात् आत्मा की पूर्ण शुद्ध मोक्षदशा प्रगट हो जाती है।

देखो, यहाँ व्यवहारनय में भी ऐसा नहीं है कि कर्म का उदय आत्मा को बंधन कराये। व्यवहारनय से कर्म की इतनी अपेक्षा है कि आत्मा स्वयं बंध के समय उसका अनुसरण करता है। कर्म का ऐसा धर्म नहीं है कि आत्मा को बंध-मोक्ष कराये। बंध-मोक्ष के समय कर्म के सद्भाव या अभाव का अनुसरण करे, ऐसा आत्मा का धर्म है। व्यवहारनय भी आत्मा के धर्म को बतलाता है, वह कहीं निमित्त के धर्म को नहीं बतलाता। 'व्यवहारनय से आत्मा बंध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण

करता है'—ऐसा कहा, उसमें द्वैत का अनुसरण करने रूप जो धर्म है, वह तो आत्मा में निश्चय से ही है। व्यवहारनय के विषयरूप धर्म भी आत्मा में निश्चय से ही है; व्यवहारनय के विषयरूप धर्म आत्मा में नहीं है—ऐसा नहीं है; आत्मा के जो अनंतधर्म हैं, वे सब निश्चय से आत्मा में हैं। उनमें से इस बंध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाले धर्म द्वारा आत्मा को लक्ष में लेनेवाला ज्ञान, वह व्यवहारनय है; क्योंकि वह निमित्त की अपेक्षा लेकर बंध-मोक्ष को जानता है; इसलिये वह व्यवहारनय है।

जिसप्रकार—दो अंश या उससे अधिक रूक्षता अथवा चिकनाईवाले परमाणु में बंध होने की योग्यता होने पर वह परमाणु अपने से दो अंश ही अधिक ऐसे अन्य परमाणु या स्कंध का अनुसरण करके स्वयं भी उतनी रूक्षता या चिकनाईरूप परिणमित होकर बंधता है; इसप्रकार व्यवहारनय से उस परमाणु ने बंध में द्वैत का अनुसरण किया है। अनुसरण करने का धर्म तो उस परमाणु का अपना है; कहीं दूसरे दो अंश अधिक परमाणु के कारण वह धर्म नहीं आया। उसीप्रकार उस परमाणु की योग्यता होने पर स्कंध से पृथक् हो, वहाँ भी अन्य परमाणु से पृथक् होनेरूप द्वैत का अनुसरण करता है।—इसप्रकार आत्मा बंध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है। बंधन कहने से कर्म के संयोग की और मोक्ष कहने से कर्म के वियोग की अपेक्षा आती है। आत्मा और कर्म—ऐसे द्वैत के बिना बंध-मोक्ष सिद्ध नहीं होते; इसलिये व्यवहारनय से बंध में और मोक्ष में आत्मा द्वैत का अनुसरण करनेवाला है। व्यवहारनय से भी ऐसा नहीं कहा कि पर के कारण आत्मा को बंध-मोक्ष होते हैं। बंध-मोक्ष तो स्वयं से ही होते हैं, किंतु व्यवहार से उसमें कर्म के संयोग-वियोग की अपेक्षा आती है; इसलिये बंध-मोक्ष में द्वैत गिना है।—ऐसा समझे तो कर्म के कारण जीव को बंध-मोक्ष होने की मान्यता न रहे, इसलिये पराधीन दृष्टि न रहे; किंतु यह धर्म आत्मा का है, इसलिये आत्मद्रव्य की ओर देखता रहता है। जिसकी दृष्टि का जोर विकार पर है, उसे आत्मा के एक भी धर्म की यथार्थ पहिचान नहीं होती। धर्म द्वारा धर्मी ऐसे शुद्धचैतन्यरूप आत्मद्रव्य को पहिचान कर उस पर दृष्टि का जोर लगने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है और तभी आत्मा के धर्मों की यथार्थ पहिचान होती है। इसप्रकार इस किसी भी धर्म के ज्ञान द्वारा अनंत धर्म के पिण्डरूप शुद्धचैतन्य द्रव्य को दृष्टि में लेकर उसका अनुभव करना ही कर्तव्य है।

अहो! अनंत गुणों से स्वाधीन ऐसे चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा को पहिचानकर उसकी महिमा और अनुभव करे तो अनादिकालीन मिथ्यात्व का महापाप छूटकर आत्मा हलका

(भाररहित) हो जाये। एक बार ऐसे आत्मा पर दृष्टि करते ही अनंत संसार के कारणरूप मोहभाव छूट जाये और मोक्ष की निशंकता से आत्मा एकदम हल्का (भाररहित) हो जाये। फिर उस शुद्ध आत्मा का अवलम्बन लेकर ज्यों-ज्यों उसमें एकाग्रता होती जाती है, त्यों-त्यों अविरति आदि पाप भी छूटकर आत्मा हलका होता जाता है और अतीन्द्रिय आनंद का वेदन बढ़ता जाता है। अन्त में शुद्धात्मस्वरूप में पूर्णतया एकाग्र होने से विकार का भार सर्वथा दूर होकर आत्मा बिलकुल हलका हो जाता है अर्थात् सम्पूर्ण शुद्ध हो जाता है और पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो जाता है। पहले बंध-दशा में कर्म के निमित्त का सद्भाव था, और अब मोक्षदशा में कर्म का अभाव हो गया इसलिये कर्म से छुटकारा हुआ।—इसप्रकार आत्मा में बंध तथा मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है—ऐसा उसका एक धर्म है, और उस धर्म से आत्मा को जाननेवाला ज्ञान, सो व्यवहारनय है।

—इसप्रकार ४४ वें व्यवहारनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

❀❀❀

(४५) निश्चयनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य निश्चय से बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है। जिसप्रकार बंध-मोक्ष के योग्य ऐसी रूक्षता या चिकनाईरूप परिणमित होकर परमाणु अकेला ही बंधता या मुक्त होता है; इसीप्रकार निश्चयनय से आत्मा अकेला ही बंध या मोक्षदशारूप होता है; बंध में या मोक्ष में अपनी योग्यता से ही परिणमित होता है; उसमें निश्चय से दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता। यहाँ बंध-मोक्ष की पर्याय को निश्चयनय का विषय कहा है; उस बंध-मोक्ष में पर की अपेक्षा न लेकर अकेले आत्मा से ही उन पर्यायों का होना मानना चाहिये-वह निश्चयनय है। उस निश्चयनय से बंध-मोक्ष में आत्मा अकेला ही है, इसलिये वह अद्वैत का अनुसरण करता है।

यहाँ, निश्चयनय से आत्मा बंध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करता है—ऐसा कहा; उसमें 'निश्चय से आत्मा के त्रिकाल एकरूप स्वभाव की-जो कि दृष्टि का विषय है'—बात नहीं है; किंतु बंध-मोक्ष पर्याय में आत्मा अकेला ही परिणमित होता है—इसप्रकार अकेले आत्मा की अपेक्षा से बंध-मोक्ष पर्याय को लक्ष में लेने की बात है। बंधपर्याय में भी अकेला आत्मा ही परिणमित होता है और मोक्षपर्याय में भी अकेला आत्मा ही परिणमित होता है—इसप्रकार बंध-मोक्ष पर्याय निरपेक्ष है, इसलिये निश्चय से आत्मा बंध में और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है—ऐसा उसका एक धर्म है।

वस्तु के एक ही धर्म को जानने में न रुककर उस धर्म द्वारा अनंत धर्मों को धारण करनेवाली ऐसी पूर्ण चैतन्यवस्तु को पहिचाने तो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान हो। पुण्य के शुभराग से धर्म होता है—ऐसा जिसने माना, उसने अनंत धर्मस्वरूप आत्मा को नहीं माना है, किंतु एक क्षणिक विकार को ही आत्मा माना है। शुभराग तो आत्मा के अनंत गुणों में से एक चारित्रगुण को एक समय की विकारी पर्याय है; उसी समय आत्मा में उस चारित्रगुण की अनंती शुद्ध-पर्यायें होने की शक्ति है, तथा चारित्र के अतिरिक्त ज्ञान-श्रद्धादि अनंत गुण हैं। यदि ऐसे अनंत गुणों को धारण करनेवाले आत्मा को लक्ष में ले तो उस जीव को क्षणिक राग में एकत्वबुद्धि न हो और न वह राग से लाभ माने। क्षणिक राग से लाभ माननेवाले ने अनंत धर्म के पिण्ड शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं माना, इसलिये उसे धर्म नहीं होता।

हे भगवान! आत्मा कैसा है—कि जिसे पहिचानकर अंतर में एकाग्र होने से धर्म हो?—ऐसा जिज्ञासु शिष्य ने पूछा है; उसका यह उत्तर चल रहा है। उसमें आचार्यदेव ने अनेक नयों से वर्णन करके आत्मा का स्वरूप समझाया है। नयों से आत्मा के जिन-जिन धर्मों का वर्णन किया है, वे सब धर्म आत्मा में स्वयं से ही हैं; पर के कारण आत्मा के धर्म नहीं हैं; इसलिये पर सन्मुख देखना नहीं रहता किन्तु धर्म के आधाररूप ऐसे शुद्ध चैतन्य द्रव्य की ओर देखना रहता है।

निश्चय से आत्मा स्वयं अकेला ही बंध-मोक्षरूप परिणमित होता है; बंध होने में कर्म का निमित्त और मोक्ष होने में देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त—इसप्रकार पर की अपेक्षा से बंध-मोक्ष को लक्ष में लेना, सो व्यवहार है। आत्मा स्वयं अपनी पर्याय में हीं बँधता है और स्वयं अपनी पर्याय में ही मोक्ष प्राप्त करता है;—इसप्रकार बंध-मोक्ष में स्वयं अकेला होने से निश्चय से आत्मा अद्वैत का अनुसरण करता है। निश्चय से बंध में या मोक्ष में आत्मा अपने भाव का ही अनुसरण करता है, पर का अनुसरण नहीं करता। स्वयं विकारभावरूप परिणमित होकर उस विकार से बँधता है और शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से स्वयं ही शुद्धभावरूप परिणमित होकर मुक्त होता है;—इसप्रकार निश्चय से आत्मा बंध में या मोक्ष में अपने अतिरिक्त किसी पर का अनुसरण नहीं करता; इसलिये बंध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करे, ऐसा उसका धर्म है। यह बात समझे तो बंध-मोक्षरूप परिणमित होनेवाले ऐसे आत्मा पर दृष्टि जाये और शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा दृष्टि में आ जाये। फिर परवस्तु बंध-मोक्ष कराती है, यह मान्यता तो रह ही नहीं सकती। और जिसके ऐसी दृष्टि हुई है कि—'बंध-मोक्षरूप से मेरा आत्मा अकेला ही परिणमित होता है;'—उसको अपने में मात्र बंधरूप परिणमन नहीं होता, किन्तु मोक्षमार्गरूप परिणमन प्रारम्भ हो ही जाता है। ४४ वें नय में

व्यवहारनय से बंध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करने का धर्म कहा उसमें भी, वह धर्म आत्मा का अपना होने से आत्मद्रव्यसन्मुख देखना आता है; कहीं पर सन्मुख दृष्टि करना नहीं आता। द्वैत का अनुसरण करनेरूप धर्म और अद्वैत का अनुसरण करनेरूप धर्म भी आत्मा में है।—इसप्रकार अनंत धर्म एकसाथ वर्तते हैं; उन सब धर्मों का स्वीकार करने से सम्पूर्ण आत्मद्रव्य ही शुद्धचैतन्यमात्ररूप से दृष्टि में आ जाता है। अनंत धर्मों के पिण्डरूप पूर्ण आत्मद्रव्य को भूलकर एक धर्म पर ही लक्ष रखा करे तो वहाँ आत्मद्रव्य यथार्थरूप से प्रतीति में नहीं आता। अनंत धर्मात्मक आत्मद्रव्य को लक्ष में लेने से वह शुद्ध चैतन्यमात्ररूप से दृष्टि में (-प्रतीति में) आता है; वहाँ अपूर्व सम्यग्दर्शन होता है और अनादिकालीन मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। यहाँ से साधकदशा का अपूर्व प्रारम्भ होता है। किन्तु उस शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा में ही एकाग्र होने से चारित्रदशारूप मुनिपना प्रगट होता है और अस्थिरता का नाश हो जाता है।—यही धर्म और मोक्षमार्ग है।

अनंत धर्मस्वरूप अपने आत्मा की महिमा न आकर अज्ञानी को पर की महिमा आती है, और अधिक से अधिक एक-एक धर्म का भेद करके उसी के विकल्प में लाभ मानकर अटक जाता है, इसलिये शुद्ध चैतन्यद्रव्य उसकी प्रतीति में नहीं आता, और न उसके मिथ्यात्व का नाश होता है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि बंध मार्ग में भी आत्मा स्वयं अकेला ही बंध-भाव को करता है; मोक्षमार्ग में भी आत्मा अकेला ही अपने ही छह कारकों से स्वयं मोक्षमार्गरूप परिणमित होता है और मोक्ष में भी स्वयं अकेला ही है। मोक्षमार्ग के समय व्यवहार से दूसरे निमित्त की अपेक्षा भले हो, किन्तु वास्तव में आत्मा मोक्षमार्ग में अपने स्वभाव का ही अनुसरण करता है। पर का अनुसरण करने से मोक्षमार्ग नहीं है। 'बंध मार्ग में तथा मोक्षमार्ग में, मैं अकेला ही हूँ, किसी अन्य द्रव्य के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है'—ऐसा निर्णय करनेवाला जीव, परद्रव्य की एकत्वबुद्धि तोड़कर स्व-द्रव्योन्मुख होने से शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। इस प्रवचनसार की १२६ वीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा था कि—जब मैं संसारी था, तब (अज्ञानदशा में) भी सचमुच मेरा कोई नहीं था, उससमय भी मैं अकेला ही कर्ता था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरोक्त चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतंत्र था... और अभी मुमुक्षुदशा में अर्थात् ज्ञानदशा में भी सचमुच मेरा कोई नहीं है... अब भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ; क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतंत्र हूँ...—इसप्रकार बंधमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है—ऐसी भावनावाला यह पुरुष, परमाणु की भाँति एकत्वभावना में उन्मुख-तत्पर होने से उसे परद्रव्यरूप परिणति बिलकुल नहीं होती; और परमाणु की भाँति, एकत्व की भावना करनेवाला पुरुष, पर के साथ संपृक्त नहीं होता; इसलिये परद्रव्य के

साथ असंपृक्तपने के कारण वह सुविशुद्ध होता है।

बंध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करने की बात कही, उसमें भी बंध-मोक्ष तो जीव की अपनी ही योग्यता से है, कहीं पर के कारण बंध-मोक्ष नहीं है, किंतु साथ ही वहाँ निमित्त की अपेक्षा का ज्ञान कराया है और यहाँ बंध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करने को कहकर यह बतलाया है कि बंध में, मोक्षमार्ग में या मोक्ष में परद्रव्य से निरपेक्षरूप आत्मा स्वयं अकेला ही परिणमित होता है; बंध-मोक्ष स्वतः अपने से ही होता है। निश्चय से आत्मा अद्वैत का अनुसरण करता है—ऐसा यहाँ कहा, उसका यह अर्थ नहीं है कि 'आत्मा को बंधन है ही नहीं।' बंधन में भी निश्चय से आत्मा अकेला ही परिणमित होता है, इसलिये उसे अद्वैत का अनुसरण करनेवाला कहा है—ऐसा समझना।

जिसप्रकार परमाणु स्वयं अपने में ही बंध या मोक्ष को उचित ऐसी रूक्षता-चिकनाईरूप परिणमित होता है; दूसरे परमाणुओं के साथ बँधे उस समय भी बन्धदशारूप स्वयं अपने में ही परणिमित होता है, और अन्य परमाणुओं से पृथक् हो, तब उस पृथक् होने की अवस्थारूप भी स्वयं अपने में ही परिणमित होता है। इसप्रकार निश्चय से उस परमाणु के बंध-मोक्ष में दूसरे परमाणु की अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार निश्चयनय से देखने पर, आत्मा के बंध-मोक्ष में पर की अपेक्षा नहीं है; आत्मा स्वयं अकेला ही बंध-मोक्ष के योग्य अपनी पर्याय से बँधता या छूटता है। व्यवहारनय से भी आत्मा को बंध-मोक्षरूप कोई दूसरा परिणमित नहीं करता, किन्तु व्यवहारनय से आत्मा के बंध-मोक्ष में पर निमित्तों की अपेक्षा आती है; तथापि वहाँ भी बंध-मोक्षरूप से आत्मा स्वयं अकेला ही परिणमित होता है। 'मैं पर की क्रिया करता हूँ और परवस्तु मेरी बंध-मोक्षदशा की कर्ता है'—ऐसा माननेवाला तो महान मिथ्यात्व का स्वामी है; अपने स्वाधीन धर्मों का उसे भान नहीं है और परवस्तु को भी वह स्वतंत्र नहीं मानता।—ऐसे मिथ्यादृष्टि को किंचित् धर्म नहीं होता।

आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु है; उस वस्तु में उसके अनंत धर्म एकसाथ विद्यमान हैं। एकसाथ अनंत धर्मों सहित वस्तु को जाननेवाला ज्ञान, सो प्रमाण है और उसके धर्मों को मुख्य-गौण करके जाननेवाला ज्ञान, सो नय है। अनंत धर्मस्वरूप पूर्ण वस्तु के ज्ञानपूर्वक उसके किसी भी धर्म को मुख्य करके जाने तो वह नय सच्चा है। पूर्ण वस्तु के ज्ञानरहित नय सच्चा नहीं होता। इसप्रकार साधक को ही नय होते हैं।

यहाँ ४४-४५ वें नयों में सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों प्रकार से आत्मा की बंध-मोक्ष पर्याय का ज्ञान कराया है। एक आत्मा को बंध-मोक्ष में कर्म की अपेक्षा आये और दूसरे आत्मा को बंध-मोक्ष

कर्म की अपेक्षा बिना हों—इसप्रकार भिन्न-भिन्न दो आत्माओं के धर्मों की यह बात नहीं है, किन्तु एक ही आत्मा के धर्मों की बात है। एक ही आत्मा में ऐसे दो धर्म एकसाथ हैं कि व्यवहारनय से वह बंध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है और निश्चयनय से बंध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करता है। यहाँ प्रमाण के विषयरूप वस्तु का वर्णन है, इसलिये आत्मा की अवस्था में बंधन होता है, वह भी आत्मा का धर्म है; कहीं परवस्तु के कारण वह बंधन नहीं है। वह बंधन होने रूप धर्म आत्मा के त्रिकाली स्वभावरूप नहीं है किंतु बंध होने योग्य क्षणिक पर्याय के आश्रित वह धर्म है; इसलिये बंध की योग्यता दूर होकर शुद्ध द्रव्य के आश्रय से मोक्ष की योग्यता होने पर सिद्धदशा में उस बंधन होने रूप धर्म का अभाव हो जाता है।

यह मुख्यतया ध्यान रखना चाहिये कि प्रमाण के विषयरूप वस्तु को जानने से भी ज्ञान का बल त्रिकाली शुद्ध द्रव्यस्वभाव की ओर ही जाता है; क्योंकि वस्तु का त्रिकाली शुद्ध स्वभाव और क्षणिक अशुद्धता—इन दोनों को जाननेवाला ज्ञान क्षणिक अशुद्धता में ही न अटक कर त्रिकाली शुद्ध स्वभाव की ही महिमा करके उसमें एकाग्र होता है। इसप्रकार अनंत धर्मात्मक वस्तु को जाननेवाले की दृष्टि शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर ही होती है; यदि ऐसी दृष्टि न हो तो उसे वस्तु का ज्ञान ही सच्चा नहीं है।

बंध-मोक्ष में आत्मा अकेला ही है—ऐसा जाने तो आत्मा को परद्रव्यों से भिन्न समझे और अपने अनंत धर्म अपने में ही हैं—ऐसा जानकर शुद्ध आत्मा की दृष्टि करे। किसी भी परद्रव्य के कारण वह आत्मा को बंध-मोक्ष होना न माने। निश्चय से आत्मा अपने बंध-मोक्ष में पर की अपेक्षारूप द्वैत का अनुसरण नहीं करता, अद्वैत का अनुसरण करके स्वयं अकेला ही बंध-मोक्षरूप परिणमित होता है।

कर्म का निमित्त है, इसलिये जीव को बंधन हुआ ?—नहीं; कर्म छूटे, इसलिये जीव की मुक्ति हुई ?—नहीं; कर्म की पर्याय कर्म में और जीव की पर्याय जीव में।

जीव स्वयं अपनी पर्याय में विकाररूप परिणमित हुआ, इसलिये बंधन हुआ, और जीव स्वयं अपनी पर्याय में मोक्षरूप परिणमित हुआ, इसलिये मुक्ति हुई।—इसप्रकार निश्चयनय से बंध-मोक्ष में आत्मा अद्वैत का अनुसरण करता है अर्थात् उसमें पर की अपेक्षा नहीं है। ऐसा होने पर भी व्यवहारनय से, आत्मा की बंध-मोक्षपर्याय में कर्म के संयोग-वियोग की जो अपेक्षा है, उसका भी साधक को ज्ञान है-यह बात ४४ वें नय में सिद्ध की है।

—यहाँ ४५ वें निश्चयनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

ज्ञान
सर्वज्ञ का और साधक का

[श्री प्रवचनसार गाथा ३६ के प्रवचन में से अद्‌भुत न्याय]
(वीर सं० २४८१ वैशाख शुक्ला १४)

आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है। वह ज्ञान जब स्वयं अपने स्वभाव का आश्रय करके परिणमित हो, तब सर्वज्ञता प्रगट होती है। उन सर्वज्ञ के ज्ञान में जगत के समस्त पदार्थ ज्ञात होते हैं। ज्ञान-ज्ञेय का परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपना है, इसलिये केवलज्ञान में जगत के समस्त ज्ञेय निमित्त हैं और उन समस्त ज्ञेयों को केवलज्ञान निमित्त है।

देखो, यहाँ आत्मा के ज्ञानस्वभाव की पहिचान कराते हैं। आत्मा ज्ञानस्वभाव है। ज्ञान सर्व ज्ञेयों को निमित्त, और सर्व ज्ञेय, ज्ञान को निमित्त—इसप्रकार ज्ञान तथा ज्ञेय के ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की बात की, क्योंकि वह तो स्वभाव है; ज्ञान-ज्ञेय का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध तो सिद्धभगवान के भी हैं।

—किन्तु विकार और कर्म का जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसकी बात यहाँ नहीं की है; क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। विकार को भी जानने का आत्मा का स्वभाव है किन्तु उसे करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है।

पूर्ण ज्ञान, वह समस्त ज्ञेयों को निमित्त है और समस्त ज्ञेय उस पूर्ण ज्ञान में निमित्त है—ऐसा निर्णय करे तो आत्मा के ज्ञानस्वभाव का निर्णय हो जाये; कोई परज्ञेय इष्ट और कोई अनिष्ट—ऐसा भेद न रहे।

अपने ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होने पर भी, साधकदशा में राग भी होता है, किन्तु साधक तो उसका भी वास्तव में ज्ञाता ही है। वह जानता है कि जैसा सर्वज्ञ के ज्ञान का स्वभाव है, वैसा ही मेरे ज्ञान का स्वभाव है—सर्वज्ञ का ज्ञान पूर्ण है और मेरा अपूर्ण है—इतना ही अंतर है; तथापि ज्ञान की जाति तो एक ही है। जिसप्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान, राग से भिन्न है; उसीप्रकार मेरा ज्ञान भी राग से भिन्न ही है। मेरा ज्ञान, ज्ञानरूप ही परिणमित होात है—रागरूप परिणमित नहीं होता और

राग, ज्ञेयरूप ही परिणमित होता है किन्तु ज्ञानरूप परिणमित नहीं होता।—इसप्रकार ज्ञान और राग की अत्यन्त भिन्नता है।

राग का और ज्ञान का भी मात्र ज्ञेय-ज्ञायकपने का ही सम्बन्ध है, कर्ता-कर्मपना नहीं है। जिसप्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान, राग को जानता होने पर भी, राग के कर्तारूप से परिणमित नहीं होता; उसीप्रकार साधक का ज्ञान भी वास्तव में राग के ज्ञातारूप से ही परिणमित होता है; राग का कर्ता नहीं होता।

ज्ञान में राग ज्ञात होता है, इसलिये ज्ञान के ज्ञेयरूप से वह निमित्त है; और ज्ञान उस राग को ज्ञेय बनाता है; इसलिये ज्ञातारूप से ज्ञान उसे निमित्त है। सर्वज्ञ के ज्ञान में यह राग ज्ञात होता है, इसलिये सर्वज्ञ के ज्ञान में यह राग निमित्त है और राग में सर्वज्ञ का ज्ञान निमित्त है।

अहो, राग के समक्ष सर्वज्ञता का निमित्त! इसलिये राग के साथ सर्वज्ञता की प्रतीति भी साथ ही साथ रहती है;—इसप्रकार सर्वज्ञ को साथ रखकर साधक चला है सर्वज्ञ होने... राग के समय साधक को अकेला राग का ही अस्तित्व दिखाई नहीं देता, किन्तु उसी समय राग से भिन्न ऐसी सर्वज्ञता की अर्थात् आत्मा के ज्ञानस्वभाव की प्रतीति उसे साथ ही साथ वर्तती ही है। 'राग मैं नहीं हूँ, किन्तु ज्ञायक मैं हूँ'—इसप्रकार राग के समय भी राग से भिन्न ज्ञायकपने की प्रतीति रहती है; उसी के जोर से साधक का राग टूटकर अल्पकाल में सर्वज्ञता प्रगट हो जायेगी।

ज्ञान का तथा राग का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। ज्ञान का स्वभाव जानने का है और राग तो ज्ञेय है। सर्वज्ञ के ज्ञान में यह राग, ज्ञेयरूप से निमित्त है और इस राग को सर्वज्ञ का ज्ञान, ज्ञातारूप से निमित्त है। ज्ञानस्वभावोन्मुख रहकर साधक जानता है कि यह राग जिसप्रकार सर्वज्ञ के ज्ञान में निमित्त है, उसीप्रकार मेरे ज्ञान में भी मात्र ज्ञेयरूप से निमित्त है; और सर्वज्ञ का ज्ञान जिसप्रकार राग को निमित्त है, उसीप्रकार मेरा ज्ञान भी राग को मात्र निमित्त है—कर्ता नहीं। सर्वज्ञ का ज्ञान जिसप्रकार इस राग के साथ तन्मय नहीं है, उसीप्रकार मेरा ज्ञान भी इस राग के साथ तन्मय नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान की और मेरे ज्ञान की एक ही जाति है, राग की जाति ज्ञान से पृथक् है।

देखो, यह भेदज्ञान!! और यह सर्वज्ञ की श्रद्धा!! यदि अपने में ज्ञान की और राग की स्पष्ट भिन्नता भासित न हो तो उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की भी वास्तव में श्रद्धा नहीं है।

साधक को अभी पूर्ण ज्ञान नहीं है, इसलिये उसके ज्ञान में पूरे ज्ञेय भी निमित्त नहीं होते; किन्तु प्रतीति में तो परिपूर्ण ही आ गया है। समस्त ज्ञेयों का मैं ज्ञाता ही हूँ, किन्हीं भी परज्ञेयों के

साथ इसके सिवा मेरा दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं है;—ऐसी ज्ञानी को श्रद्धा है। ज्ञान अपूर्ण होने पर भी, उसे भी परज्ञेयों के साथ मात्र निमित्त-नैमित्तिकपना है।—ज्ञाता-ज्ञेयपने का ही सम्बन्ध है किन्तु विकाररूप सम्बन्ध नहीं है। जिसप्रकार सिद्धभगवान को जगत के समस्त ज्ञेय, ज्ञान के ही निमित्त हैं, विकार के निमित्त नहीं हैं; उसीप्रकार मेरा भी ऐसा ही ज्ञानस्वभाव है और ज्ञेयपदार्थ मुझे ज्ञान के ही निमित्त हैं।

प्रश्न—अभी साधकदशा है, इसलिये विकार तो होता है और उसके निमित्त भी हैं, तथापि विकार के निमित्तों का क्यों अस्वीकार किया ?

उत्तर—विकार और उसके निमित्त—यह दोनों ज्ञान में तो ज्ञेयरूप ही हैं। साधक को विकार है, वह भी ज्ञान के ज्ञेयरूप से ही निमित्त है; क्योंकि उस राग के समय भी साधक का ज्ञान तो ज्ञानरूप में ही परिणमित होता है; ज्ञान, रागरूप में परिणमित नहीं होता; तथा राग, रागरूप में ही परिणमित होता है, ज्ञानरूप में परिणमित नहीं होता—इसप्रकार ज्ञान और राग को कर्ता-कर्मपना नहीं है-एकरूपता नहीं है। ऐसे भेदज्ञानरूप साधक का परिणमन है। साधक का ज्ञान, ज्ञानस्वभाव को स्वज्ञेयरूप से प्रकाशित करता हुआ रागादि को परज्ञेयरूप से जानता है।

केवलज्ञानी भगवान को अपने आत्मा में तो राग का परिणमन है ही नहीं, और जगत के ज्ञेयों में जो रागादिक हैं, वे उनके ज्ञान में ज्ञेयरूप से ही हैं और ज्ञान उनका ज्ञाता है; इसलिये उन्हें ज्ञान के ज्ञेयरूप से ही वे निमित्त हैं और ज्ञान उनके ज्ञातारूप से निमित्त हैं; किन्तु ज्ञान की और राग की एकता नहीं है। अब, जैसा केवलज्ञानी भगवान का ज्ञानस्वभाव है, वैसा ही इस जीव का ज्ञान स्वभाव है, इसलिये इस जीव के ज्ञान की भी राग के साथ एकता नहीं है।

अहो ! इसप्रकार सर्वज्ञज्ञान का और ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे तो अपने में ज्ञान और राग का भेदज्ञान परिणमित हो जाये, तथा रागादि के साथ एकता छूट जाये;—ऐसा होने पर विकार से विमुख होकर उसका परिणमन ज्ञानस्वभाव की ओर ढल जायेगा।

—यह है सर्वज्ञ होने का मार्ग !

❀ **जय हो ऐसे ज्ञानस्वभाव की** ❀

सम्मं मे सव्व भूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि।

''सौ भूतमां समता मने, को साथ वेर मने नहीं''

[श्री नियमसार गाथा १०४ पर पू० गुरुदेव के भाववाही सुन्दर प्रवचनों से]

(इस गाथा पर ३ बार प्रवचन हुए हैं जिन्हें संयुक्त करके यहाँ प्रकाशित किया है)

सहज वैराग्य परिणतिवाले मुनिवरों को मृत्यु का भय नहीं है। मैं तो देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभाव हूँ—ऐसे भान में मरण का भय नहीं होता; वहाँ आत्मा के आनन्द में लीन होने से चैतन्य समाधि का महोत्सव होता है... अहो! मुनि तो आनन्द सागर में पड़े हैं, आनन्द सागर से बाहर निकल कर परलक्ष करने का उन्हें अवकाश ही कहाँ है ?

देखो, यह वीतरागमार्ग के मुनियों की समाधि! ऐसी दशा में वर्तते हुए मुनिराज कहते हैं कि हम तो साक्षी स्वरूप चैतन्यमूर्ति हैं। अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़कर हमने जगत का सम्बन्ध तोड़ दिया है; इसलिये हमारे कोई आशा नहीं है किन्तु स्वभाव की समाधि वर्त रही है। जगत के जीवों में हमें समता है। आत्मा में ऐसी दशा प्रगट हो, वही शान्ति और शरणरूप है।

'अहो! ऐसे निर्ग्रंथ महात्माओं के वीतराग मार्ग में हम कब विचरेंगे?—हम कुन्दकुन्दाचार्यादि दिगम्बर सन्तों के पैर चिह्नों पर विचरें—ऐसा धन्य अवसर कब आयेगा!!' (—पूज्य गुरुदेव)

यह नियमसार की १०४ वीं गाथा पढ़ी जा रही है। अन्तर्मुख परम तपोधन की भाव शुद्धि कैसी होती है ? अर्थात् मोक्षमार्ग के साधक मुनिवरों को समता तथा समाधि कैसी होती है, वह कहते हैं—

सम्मं मे सव्व भूदेसु, वेरं मज्झं ण केण वि।
आसाए वो सरित्ताणं, समाहि पड़ीवज्जए॥१०४॥
सौ भूतमां समता मने, को साथ वेर भने नहीं;
आशा खरेखर छोडीने, प्राप्ति करूँ हुं समाधिनी॥१०४॥

जिसे सर्व प्राणियों के प्रति समभाव हो, किसी के साथ वैर भाव न हो, उस जीव की दशा कैसी होती है, वह यहाँ बताते हैं। चैतन्य में एकाग्रता होने पर, यह मेरे मित्र और यह शत्रु—ऐसी

राग-द्वेषरूप परिणति ही जिसे नहीं होती, उन जीव को किसी के प्रति वैर नहीं होता। पर जीव तो मुझसे भिन्न ही है और यह पाँच जड़ इन्द्रियाँ भी मुझसे पृथक् हैं; इन्द्रियों की ओर के खंड-खंड ज्ञान जितना भी मैं नहीं हूँ; मैं तो अखंड ज्ञायकतत्त्व हूँ।—ऐसा जिसे भान हुआ हो, उसे किसी पर को शत्रु या मित्र मानकर राग-द्वेष नहीं होता और फिर विशेष लीनता होने पर, राग परिणति का ही अभाव हो जाने से किसी के प्रति शत्रुता या मित्रता का भाव नहीं होता, इसलिये वास्तव में उसी को सर्व जीवों के प्रति समभाव है—ऐसा समभाव मुनिवरों के होता है।

यहाँ मुनिराज कहते हैं कि अपना उपयोग तो हमने अतीन्द्रिय आत्मा पर लगाया है और समस्त इन्द्रियों के व्यापार को छोड़ दिया है; अतीन्द्रिय स्वभाव के वेदन में हमें दूसरे धर्मात्मा अथवा अज्ञानी—सभी के प्रति समता है। देखो, इसमें दूसरे जीवों को क्षमा करने की बात नहीं ली; दूसरों को क्षमा करने का विकल्प भी राग है। यहाँ तो कहते हैं कि अतीन्द्रिय चैतन्य की ओर के उपयोग के कारण हमें समता है और समता होने से किसी के प्रति वैरभाव नहीं है, एक का आदर और दूसरे का अनादर—ऐसा राग-द्वेष का भाव ही हमें नहीं होता। देखो, यह विकल्प की बात नहीं है, किन्तु मुनियों के अन्तर में ऐसी सहज परिणति हो जाती है।

'चैतन्य की साधना करनेवाले धर्मात्मा हमारे साधर्मी हैं, इसलिये हमें उनके प्रति प्रेम रखना चाहिये और अमुक जीव धर्म के विरोधी हैं, इसलिये उनके प्रति द्वेष रखना चाहिए'—ऐसा तो सम्यक्त्वी भी नहीं मानते। सम्यक्त्वी को भूमिकानुसार साधर्मी धर्मात्मा के प्रति उल्लास एवं वात्सल्य का भाव आता है, किन्तु वह पर के कारण नहीं आता; और सदैव वह भाव करता रहूँ—ऐसी भी उनकी बुद्धि नहीं है। मुनियों को इन्द्रियों की ओर का व्यापार छूट गया है, इसलिये उसने ऐसा जाना है कि मेरा ज्ञान इन्द्रियों के आलम्बन से रहित है। जिसके इन्द्रिय विषयों की आसक्ति हट गई है, उसे कोई भी जीव शत्रु या मित्ररूप दिखाई नहीं देता। मैं तो ज्ञान हूँ; धर्मात्मा हो या मिथ्यादृष्टि हो, किन्तु वह कोई मुझे राग या द्वेष के कारण नहीं है—ऐसी बुद्धि होने से धर्मात्मा को पर के प्रति मित्र या शत्रु की बुद्धि से राग-द्वेष नहीं होते। यहाँ तो मुनिदशा के समभाव की बात है। मुनिराज कहते हैं कि मैं तो ज्ञानरूप ही रहना चाहता हूँ। मैंने समस्त इन्द्रिय विषयों का व्यापार छोड़ दिया है, पर के प्रति मेरी परिणति नहीं जाती, इसलिये जगत के सर्व जीवों के प्रति मुझे समता है। परमात्मा हो अथवा पामर हो, सर्व जीवों के प्रति मुझे समता है। भगवान के प्रति अथवा गुरु के प्रति भक्ति का प्रमोद आये, उसका सम्यक्त्वी ज्ञाता ही है। यह प्राणी मेरे लिये अच्छा और यह बुरा—ऐसा सम्यक्त्वी की दृष्टि में नहीं है।

मुनियों को भी कभी-कभी ऐसा खेद होता है कि अरे रे! अज्ञानी जीव आत्मा के हित की ऐसी बात क्यों नहीं समझते!—ऐसा विकल्प आये, वह भी साधकभाव में बाधकरूप है, मुनियों को उससे भिन्नत्व का भान वर्तता है। अज्ञानी जीव भेदज्ञान के बिना समता रखे और कोई जला दे, तथापि क्रोध न करे, तथापि वास्तव में उसके समभाव का अंशमात्र भी नहीं है; क्योंकि समभाव करनेवाला जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसकी तो उसे खबर नहीं है और इन्द्रियविषयों का व्यापार छोड़ा नहीं है। अतीन्द्रिय आत्मा के लक्ष बिना इन्द्रियविषयों का व्यापार नहीं छूटता; और इन्द्रियविषयों का आलम्बन छूटे बिना पर के प्रति राग-द्वेष दूर नहीं होते, इसलिये उसके समता हो ही नहीं सकती। 'महावीर' का नाम लेते हुए शरीर त्याग करे, तथापि उसके समभाव नहीं है। मुनियों ने तो भेदज्ञान करके इन्द्रियों का व्यापार छोड़ दिया है और परिणति को आत्मा में जोड़ दिया है, इसलिये उनके समभाव ही है; किसी के प्रति राग-द्वेष की परिणति नहीं होती। स्वयं तो अपने ज्ञान में लीन हैं, परिणति को आनन्द के ही वेदन में लगा दिया है;—वहाँ जगत् में कौन मित्र और कौन शत्रु? वीतराग-शासन का महान शत्रु हो, तथापि उसके प्रति शत्रुता या वैरभाव नहीं होता, और महान धर्मात्मा के प्रति मित्रता का रागभाव नहीं होता। आत्मा तो ज्ञायक है, उसका स्वभाव ज्ञाता है; वह किसे नहीं जानेगा?—सबको जानने का स्वभाव है, किसी के प्रति राग-द्वेष की वृत्ति करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है। इसलिये जिसने ज्ञानस्वभाव में उपयोग को लगाया है, उसे किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं होते।—इसी का नाम सर्व जीवों के प्रति समभाव है।

मुनियों के ऐसी राग-द्वेषरहित वैराग्य परिणति होती है, इसलिये कोई आशा नहीं वर्तती। यह वस्तु ऐसी हो तो ठीक और यह वस्तु ऐसी न हो तो ठीक—ऐसी किसी भी परपदार्थ की आशा मुनियों के नहीं होती, क्योंकि चैतन्य की परिणति में सहज वैराग्य वर्तता है। भगवान से साक्षात् भेंट हो तो ठीक और शत्रु दूर हों तो ठीक—ऐसी आशा मुनिवरों के सहज वैराग्य परिणति में नहीं होती, उनके तो परम समरसी भाव के वेदन में परम समाधि का ही आश्रय वर्तता है। सम्यक्त्वी के अभी अल्प राग-द्वेष परिणति होने पर भी, उसकी अन्तर्दृष्टि में तो चैतन्यस्वभाव का आश्रय वर्तता है और पर के प्रति राग-द्वेष का अभिप्राय उसके छूट गया है। यहाँ तो सम्यक्दर्शन के पश्चात् मुनिदशा में शुद्धपरिणति होने पर कैसी समाधि वर्तती है, उसकी बात है। ऐसे मुनिवर और धर्मात्माओं को मृत्यु भी महोत्सव है... वहाँ चैतन्य की समाधि का महोत्सव होता है; उन्हें मृत्यु का भय नहीं है। जगत के मूढ़ जीवों को मृत्यु का डर है, किन्तु मैं तो ज्ञानानन्दस्वभाव हूँ—ऐसे स्वभाव

के भान में धर्मात्मा को मृत्यु के समय भी शान्ति और समाधि का महोत्सव है; उसे मरण का भय नहीं है। देखो, सुकौशल मुनि के शरीर को व्याघ्री फाड़ खाती है किन्तु उन मुनिराज को किसी के प्रति वैरभाव नहीं है, आत्मा के स्वभाव में लीन होने से उनके अतीन्द्रिय आनन्दमय परम समरसीभाव झरता है; उसमें सर्व जीवों के प्रति समभावरूप परम समाधि वर्तती है—ऐसी सहज वैराग्य परिणति में कोई मित्र या शत्रु है ही नहीं। आत्मा की समाधि में मुनिवरों को अनाकुल आनन्द का ही वेदन है; अन्य कोई विकल्प या चिन्ता की आकुलता उसमें नहीं है। शरीर को फाड़ खानेवाले सिंह-व्याघ्र पर द्वेष नहीं है; यह मेरा शत्रु—ऐसी द्वेष की वृत्ति भी नहीं उठती। अरे! आत्मा के आनन्द में ऐसी लीनता हो गई है कि—'यह सिंह मेरे शरीर को खा रहा है'—इतना भी परलक्ष जहाँ नहीं होता—ऐसी उत्तम समाधि है और उसका फल मोक्ष है। इसका नाम—'शत्रु-मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता!'

❀❀❀

समस्त आत्मा ज्ञानस्वभावी ही हैं—ऐसी दृष्टि में किस पर राग अथवा किस पर द्वेष होगा? समस्त आत्मा ज्ञानस्वभावी परिपूर्ण भगवान हैं; कौन किसके साथ बैर करे? और कौन किसके साथ मित्रता? योगीन्द्र मुनिराज कहते हैं कि—कौन किसी की समता-स्थिरता करे? कौन किसी की सेवा-पूजा करे? कौन किसी का स्पर्श करे या छोड़े—

'कौन किससे मैत्री करे, किसके साथ क्लेश;
जहाँ देखूँ वहाँ जीव सब, शुद्ध बुद्ध ज्ञानेश।'

अहो, शुद्ध स्वभाव की दृष्टि से देखने पर सर्व आत्मा शुद्ध ज्ञान की ही मूर्ति है; स्वभाव में बड़प्पन और हीनता है ही नहीं।—ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव की दृष्टि में ज्ञानी को राग-द्वेष का अभिप्राय नहीं है। चौथे गुणस्थान में भी सम्यक्त्वी को ऐसा वीतराग अभिप्राय तो हो गया है, तथापि अस्थिरता के कारण अभी राग-द्वेष की अल्प वृत्ति होती है और मुनियों के तो अभिप्राय के उपरान्त ऐसी रागरहित स्थिरता हो गई है कि किसी के प्रति शत्रु-मित्रता की वृत्ति उठती ही नहीं। उनके समीप अन्य जीव बैरभाव छोड़ें या न छोड़ें, किन्तु उन्हें किसी के प्रति बैरभाव होता ही नहीं। इसका नाम वीतरागी अहिंसा है, उसका फल बाह्य में नहीं आता, किन्तु अंतर में अनाकुल शान्ति का वेदन होता है—यही उसका फल है। फिर वहाँ समीप ही दूसरे जीव, हिंसा के परिणाम करें तो उससे कहीं मुनिराज की वीतरागी अहिंसा में दोष नहीं है।

शरीर को फाड़ खानेवाले सिंह पर द्वेष नहीं है; यह मेरा शत्रु—ऐसी द्वेष की वृत्ति भी नहीं उठती। अरे! समाधि में स्थित मुनियों को इतना भी पर लक्ष कहाँ है कि यह सिंह है और शरीर को खा रहा है? तथा चक्रवर्ती राजा आकर चरणों में नमस्कार करते हों तो वहाँ राग की वृत्ति नहीं होती;—ऐसी वीतराग परिणति का नाम समाधि है। इसके अतिरिक्त आत्मा के भान बिना हठ योग ले अथवा जीवित धरती में गड़ा रहे, वह कहीं समाधि नहीं है; उसमें तो आत्मा की अनंती असमाधि है। यहाँ तो ज्ञान में एकाग्र होकर आनन्द के वेदन में पड़े हैं—ऐसे मुनिवरों की समाधि की बात है। ऐसी परिणति में मुनियों को कोई आशा नहीं है, किन्तु परम उदासीनतारूप समाधि अर्थात् आत्मा के शान्तरस में लीनता वर्तती है।

आधि, व्याधि और उपाधि—इन तीनों से रहित आत्मा की परिणति, वह समाधि है। शरीर सम्बन्धी, मन सम्बन्धी चिन्ता अथवा स्त्री-पुत्रादि भिन्न पदार्थों की चिन्ता—इन तीनों प्रकार की चिन्ता से पार ज्ञानस्वभाव का चिन्तन अर्थात् एकाग्रता का नाम समाधि है; उस समाधि में अनाकुल आनन्द का ही वेदन है, अन्य कोई विकल्प अथवा चिन्ता की आकुलता उसमें नहीं है।

जगत में दूसरा कोई इस आत्मा का शत्रु या मित्र नहीं है। आत्मा का मित्र ऐसा जो परम स्वभाव, उसमें जो लीन हो गये हैं, इसलिये बाह्य में किसी के प्रति—'यह मेरा मित्र'—ऐसा राग का विकल्प मुनियों को नहीं होता; और शत्रु ऐसा जो मोह भाव, उसका तो नाश हो गया है, इसलिये बाह्य में किसी के प्रति—'यह मेरा शत्रु'—ऐसी द्वेष की वृत्ति भी नहीं होती;—ऐसी मुनियों की दशा है। सिंह आकर शरीर को फाड़ खाते हों, वहाँ मुनि ऐसा विचार करते हैं कि मुझे शरीर की आवश्यकता नहीं है, और यह सिंह आकर उसे लिये जा रहा है तो यह मेरा मित्र है—ऐसा समझाने के लिये कहा जाता है; बाकी देह के प्रति या सिंह के प्रति इतना शुभविकल्प उठे तो वह भी वास्तव में समाधि का भंग है। समाधि में लीन मुनियों को तो इतना शुभविकल्प भी नहीं उठता। अहो! मुनि तो आनन्द सागर में डूबे हैं; उन्हें आनन्द सागर से बाहर निकलकर परलक्ष करने का अवकाश ही कहाँ है? देखो, यह वीतराग मार्ग के मुनियों की समाधि! 'यह शरीर तथा कुटुम्ब, पुत्रादि सब जीव के शत्रु हैं, इसलिये इनका त्याग करो'—इसप्रकार पर को शत्रु मानकर छोड़ना चाहे, वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसे समभाव नहीं, किन्तु पर के प्रति महान् द्वेष भाव है। पुनश्च, 'राजा अत्याचारी हो तो उसका विरोध करना ही चाहिये'—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे जहाँ-जहाँ और जब-जब अत्याचारी राजा होगा, वहाँ-वहाँ और तब-तब द्वेष भाव करने का ही अभिप्राय हुआ, वीतरागता

का अभिप्राय तो नहीं हुआ; उसे तो किंचित् भी समभाव नहीं होता। ज्ञानी को कभी-कभी द्वेष भाव हो जाये, किन्तु उसका अभिप्राय ऐसा नहीं होता कि वहाँ द्वेष करना ही चाहिये; अथवा राजा अत्याचारी है, इसलिये मुझे द्वेष करना पड़ता है—ऐसा अभिप्राय भी नहीं है, इसलिये उसके दृष्टि में तो समभाव ही वर्तता है। तदुपरान्त यहाँ तो राग-द्वेषरहित वीतरागी समभाव की बात है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतराग समाधिरूप परिणमित मुनि कहते हैं कि इस जगत में हमारा कोई मित्र अथवा शत्रु नहीं है, इसलिये हमें किसी की आशा नहीं है। श्रद्धा से ऐसा स्वीकार किया है कि—'मैं तो परिपूर्ण ज्ञायकमूर्ति ही हूँ'—उसमें अन्य किसी की आशा नहीं है; ज्ञान से ऐसा भेदज्ञान किया है कि—'जगत के समस्त पदार्थों से मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव भिन्न है', इसलिये उसमें भी किसी की आशा नहीं है; और चारित्र से अन्तर स्वरूप में लीन होकर राग-द्वेष की वृत्ति ही तोड़ दी है, इसलिये उसमें भी किसी की आशा नहीं है।—इसप्रकार मुनि आशारहित होकर रत्नत्रय की एकतारूप समाधि में परिणमित हो गये हैं।

किसी भी प्रकार की इच्छा आत्मा की पवित्रता को (वीतरागता को) रोकनेवाली है। जो इच्छा आत्मा की वीतरागता न होने दे, उसकी इच्छा ज्ञानी क्यों करेंगे? आत्मा की इच्छा से बाह्य में (शरीर की निरोगता आदि) कुछ नहीं हो जाता, इसलिये इच्छा पर में भी व्यर्थ है, और स्वयं की पवित्रता को रोकनेवाली है, तो ज्ञानी उसकी इच्छा क्यों करेंगे? मेरा ज्ञानस्वभाव इच्छा से पृथक् ही है—ऐसे भेदज्ञानपूर्वक ज्ञान में एकाग्र होकर मुनियों ने इच्छा को छोड़ दिया है—उसका नाम समाधि है। इसीलिये कहा है कि—'आशा को छोड़कर समाधि की प्राप्ति करता हूँ।'—ऐसी मुनियों की अन्तर्दशा होती है। अभी तो जिसे ऐसा अभिमान हो कि—मैं अपनी इच्छा द्वारा देहादि की क्रिया करता हूँ, वह जीव पर के अहंकार में रुका है, वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसकी आशा नहीं छूटती और न समाधि होती है।

सम्मं मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता णं, समाहि पडीवज्जए॥१०४॥

—देखो, यह मुनियों के भाव की शुद्धता! 'मुझे सर्व जीवों के प्रति समता है, मेरा किसी के साथ बैर नहीं है; सचमुच आशा को छोड़कर मैं समाधि की प्राप्ति करता हूँ।'—ऐसी परिणति मुनियों के हो जाती है।

अहो! मैं तो नित्य ज्ञानस्वभावी चैतन्यवस्तु हूँ, मैं किसी का मित्र या शत्रु नहीं हूँ, और कोई

मेरा मित्र या शत्रु नहीं है, पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर मैंने अपने स्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़ा है, इसलिये मुझे किसी की आशा नहीं है, सर्व प्रकार की आशा छोड़कर चैतन्य में लीन होता हूँ। कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—हम राग-द्वेषरहित परम समाधि में स्थिर हुए हैं, और हे जगत् के जीवों! जो हमने किया है, वह तुम भी करो!

मुनिराज कहते हैं कि—अज्ञानी हो अथवा भेदज्ञानी हो, मुझे उनके प्रति समता है, इसलिये वास्तव में तो बहिर्मुख वृत्ति ही नहीं जाती। बहिर्मुख वृत्ति छोड़कर मैं तो अपने चैतन्य में ही अन्तर्मुख होता हूँ, इसलिये बाह्य में मुझे किसी के प्रति राग या द्वेष नहीं है। 'अपूर्व अवसर' में ऐसा कहा है कि—

'शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता...'

और यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी अथवा अज्ञानी के प्रति समता है। जगत के जीव अपने-अपने परिणमन प्रवाह में बह रहे हैं, अपने परिणमन से बाहर निकलकर दूसरों का कुछ बिगाड़ने या सुधारने में कोई समर्थ नहीं है। मैं तो अपने वीतरागी आनन्द के प्रवाह में लीन होता हूँ, इसलिये मुझे किसी के साथ शत्रुता या मित्रता नहीं है। मैं ज्ञायक ज्ञायकरूप ही रहता हूँ, राग-द्वेषरूप परिणमित नहीं होता; इसलिये ज्ञेय में भी एक इष्ट और दूसरा अनिष्ट—ऐसे भाग नहीं करता।

मुनि जहाँ निर्विकल्प समाधि में स्थिर होते हैं, वहाँ केवलज्ञानी भगवान के प्रति वंदनादि का विकल्प भी नहीं रहता और शासन के विरोधी मूढ़ जीवों के प्रति द्वेषादि का विकल्प भी नहीं होता;—ऐसी तो छद्मस्थ मुनि की दशा है; तब फिर केवलज्ञान होने के पश्चात् भगवान किसी को वंदनादि करें, यह तो बात ही कहाँ रही? यह तो महान् विपरीत बात है।

कोई दुष्ट जीव आकर बैरभाव से महान् उपसर्ग करे अथवा चक्रवर्ती राजा आकर भक्तिपूर्वक चरणों में गिरे, तथापि समाधिवंत मुनियों को रोमराजि में समता है किन्तु द्वेष या राग नहीं होता; एक मेरा शत्रु और दूसरा मित्र—ऐसी वृत्ति नहीं होती। पुनश्च, शरीर में महान् रोग हो अथवा महान् ऋद्धियाँ प्रगट हों, तथापि मुनियों को समभाव है; एक अनिष्ट और दूसरा इष्ट—ऐसा राग-द्वेष नहीं है। हम तो अपने चैतन्य की केवलज्ञान ऋद्धि के साधक हैं, वहाँ इस जड़ ऋद्धि का आदर कैसे हो सकता है? अशरीरी सिद्धपद के साधक हैं, वहाँ इस शरीर के प्रति राग कैसे हो सकता है?—इसप्रकार मुनियों को समभाव होता है।

''बहु उपसर्गकर्ता प्रत्येपण क्रोध नहिं
बंदे चक्री तथापि न मले मान जो,
देह जाय पण माया थाय न रोम मां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निधान जो,
—अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे...''

अहो! ऐसे निर्ग्रंथ महात्माओं के वीतराग मार्ग पर हम कब विचरेंगे, वह धन्य अवसर हमारे कब आयेगा!—इसप्रकार श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भावना भायी है। 'विचरशुं कब महत्पुरुषने पंथ जो...' उन महान पुरुषों के पंथ पर अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्यादि दिगम्बर संतों के पदचिह्नों पर हम कब विचरेंगे—ऐसी भावना भायी है। जबकि यह शास्त्रकार तथा टीकाकार मुनिवर तो उसी दशा में वर्त रहे हैं; इसलिये कहते हैं कि अहो! हम तो चैतन्यमूर्ति साक्षी स्वरूप हैं; अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़कर हमने जगत के साथ का सम्बन्ध तोड़ दिया है; इसलिये हमें कोई आशा नहीं है किन्तु स्वभाव की समाधि वर्तती है, जगत् के सर्व जीवों में हमें समता है। देखो, यह दशा!! आत्मा में ऐसी दशा प्रगट हो, वही शांति और शरणरूप है; इसके अतिरिक्त जगत में अन्य कोई शरणभूत नहीं है। भाई! जगत के जड़ या चेतन समस्त पदार्थ अपने परिणमन प्रवाह से परिवर्तित होते रहेंगे, तू उसमें क्या करेगा? तू अपने ज्ञानस्वभाव को सँभाल कर ज्ञातारूप रह, तो तुझे समता और शांति होगी।

नमस्कार हो.... सहज वैराग्य परिणतिवान
उन वीतरागी संतों को!

श्री गोम्मटसारजी में

''योग्यता'' का स्पष्ट कथन

''अत्रोपयोगी श्लोकः—

निमित्तमांतरं तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता।
बहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितं तत्त्वदर्शिभिः॥

—इहाँ प्रासंगिक श्लोक कहिए है—(उपरोक्त श्लोक)

(श्लोक का अर्थ—) तीहिं वस्तुविषे तिष्ठति **परिणमनरूप जो योग्यता** सो अंतरंग निमित्त है बहुरि तिस परिणमन का निश्चयकाल बाह्य निमित्त है अैसें तत्त्वदर्शीनिकरि निश्चय किया है॥५८०॥''

[—देखो, श्री गोम्मटसार-जीवकांड गाथा ५८० की टीका; बड़ी पुस्तक पृष्ठ १०२२-२३]

नोटः—(१) यहाँ अंतरंग निमित्त कहने से क्षणिकउपादानकारण समझना और बाह्य निमित्त अर्थात् निमित्तकारण समझना।

(२) यहाँ ''**परिणमनरूप योग्यता**'' कही, वह वस्तु की पर्याय का **स्वकाल** है, और उसमें बाह्य निमित्त कहा, वह **परकाल** है।

(३) यहाँ '**परिणमनरूप** योग्यता'—ऐसा कहा है, इसलिये वह वस्तु की त्रिकाली योग्यता की बात नहीं है किन्तु उसकी समय-समय की पर्याय की योग्यता की बात है—यह मुख्यतः ध्यान में लेने योग्य है।

(४) प्रत्येक वस्तु की अपनी **योग्यता से ही** कार्य होता है; निमित्त के कारण कुछ नहीं होता—ऐसा जो योग्यता का स्पष्ट सिद्धान्त पूज्य गुरुदेव समझाते हैं, उसे सुनकर अनेक विद्वान कहते हैं कि ''योग्यता के लिये कोई शास्त्राधार है?''—इसलिये यहाँ श्री गोम्मटसार शास्त्र में से एक मुख्य तथा स्पष्ट आधार दिया है; दूसरे अनेक शास्त्रों में भी तत्सम्बन्धी स्पष्ट कथन आता है।

अमृतपान करो!

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य जीवों! तुम इस सम्यग्दर्शनरूपी अमृत को पीयो। यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुख का भंडार है—सर्व कल्याण का बीज है और संसार समुद्र से पार उतरने के लिये जहाज है; एक मात्र भव्य जीव ही उसे प्राप्त कर सकते हैं। पापरूपी वृक्ष को काटने के लिये यह कुल्हाड़ी के समान हैं। पवित्र तीर्थों में यही एक पवित्र तीर्थ है और मिथ्यात्व का नाशक है।

[ज्ञानार्णव अ० ६ श्लो. ५९]

सम्यक्त्व की आराधना

''ज्ञान, चारित्र और तप इन तीनों गुणों को उज्ज्वल करनेवाली—ऐसी यह सम्यक् श्रद्धा प्रधान आराधना है। शेष तीन आराधनाएँ एक सम्यक्त्व की विद्यमानता में ही आराधक भाव से वर्तती हैं। इसप्रकार सम्यक्त्व की अकथ्य, अपूर्व महिमा जानकर उस पवित्र कल्याणमूर्तिरूप सम्यग्दर्शन को इस अनंतानंत दुःखरूप—ऐसे अनादि संसार की आत्यंतिक निवृत्ति के अर्थ हे भव्यों! तुम भक्तिपूर्वक अंगीकार करो! प्रति समय आराधो!''

[आत्मानुशासन]

छुटकारा पानेवाले जीव की परिणति

[आत्मोल्लासी संतों को नमस्कार]

वैशाख शुक्ला २ (वीर सं० २४८२) के दिन पूज्य गुरुदेव ने रात्रि-चर्चा में आत्मा के छुटकारे की उल्लासभरी कहानी कही थी—अहो! जो आत्मा छुटकारे के मार्ग पर पहुँचा हो, उसके परिणाम उल्लासरूप होते हैं... और उसे छुटकारे के ही विकल्प आते हैं... स्वप्न भी उसी के आते हैं। छुटकारे के प्रसंगों की ओर ही उसकी वृत्ति जाती है... उसके विकल्प में निमित्तरूप से भी छुटकारे के ही निमित्त होते हैं। मुक्त देव, मुक्ति प्राप्त करते हुए गुरु और मुक्ति का मार्ग बतलाने वाले शास्त्र—ऐसे छुटकारे के निमित्तों के प्रति ही उसके विकल्प उठते हैं... उसी में **छुटकारे का साधन** तो निजस्वरूप का अवलम्बन है और देव-गुरु-शास्त्र भी वही करना बतलाते हैं, इसलिये उस स्वरूप साधन की प्रधानता नहीं छूटती।—ऐसी छुटकारा प्राप्त करते हुए जीव की परिणति होती है। उसे छुटकारे के मार्ग से विरुद्ध विकल्प नहीं उठते।

अहो! खेत-कार्य के बंधन से छूटकर घर की ओर लौटते हुए बैल भी उत्साह पूर्वक दौड़ते-दौड़ते घर आते हैं; रस्सी के बंधन से छुटकारे का अवसर आने पर छोटा-सा बछड़ा भी खुशी के मारे उछलने-कूदने लगता है, तो फिर अनादिकालीन भव बंधन से छुटकारे का अपूर्व अवसर मिलने पर किस मोक्षार्थी की परिणति आनंदोल्लसित नहीं होगी!! छुटकारे के मार्ग की साधना करनेवाले जीव के परिणाम अवश्य उल्लासरूप होते हैं और उल्लसित वीर्यवाला जीव ही छुटकारे का मार्ग प्राप्त करता है।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	जैन बालपोथी	।)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५- ६-७-८-१० वर्ष	३ ।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ लेने
वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।